दैनिक जागरण

Date: 26-07-17

महिला खेतिहर की भी सुध लीजिए

मृणाल पाण्डे [लेखिका प्रसार भारती की पूर्व प्रमुख एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं]

कुछ समय पहले इसी अखबार में कृषि क्षेत्र की रीढ़ महिला खेतिहरों की मीडिया और नीति-निर्माताओं द्वारा **उपेक्षा** पर छपे मेरे लेख से नाराज पाठकों के कुछ पत्र मिले। उनके **मुख्य** रूप से दो तर्क थे। एक यही कि आज सरकारी योजनाओं की कृपा से गांव जवार की युवतियां साक्षर बन चुकी हैं। उनके लिये खेतीबाड़ी के **अनाकर्षक** काम के बजाय टीचरी या नर्सिंग सरीखे कहीं बेहतर कामों की पेशकश क्यों नहीं करतीं? दो, पुरुष खेतिहर क्या कम शोषित पीड़ित हैं? पहले सवाल का जवाब लेख के भीतर ही था 'यह सच है कि पढ़-लिख कर गांव की लडकियां बहुएं खेती नहीं करना चाहतीं, पर ताजा सरकारी आंकड़ों के अनुसार शहरों या गांवों में संगठित क्षेत्र में इतनी बेरोजगारी है कि इन नौकरियों के लिये हर जगह डिग्रीयाफ्ता पुरुषों और शहरी लड़कियों की लंबी कतारें हैं। गांवों से शहर आईं स्कूली शिक्षा प्राप्त युवतियों के लिये वहां जगह नहीं है। दो, सामाजिक दशा और स्वास्थ्य **स्थिति** इन दोनों के विश्वस्त यानी सरकारी और अंतरराष्ट्रीय पैमानों पर पुरुष खेतिहरों की तुलना में महिला खेतिहरों की दशा बेहद खस्ता पाई गई है। कितनी और कैसे, यह इस लेख में बताने की कोशिश की गई है।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन यानी आइएलओ ने कृषि-कर्म को स्वास्थ्य के लिहाज से सबसे जोखिमभरा धंधा माना है। वजह यह है कि इसमें कर्मियों को खुले में खराब मौसम के बावजूद तमाम तरह के संक्रामक तत्वों के बीच घंटों काम करना होता है। इस दौरान वे रासायनिक खाद तथा जहरीले कीटनाशकों का भी लगातार छिड़काव करते रहते हैं और वह भी अक्सर नंगे पांव जो खाल से भिद कर तरह तरह की बीमारियां पैदा करता है। औरतों पर दोहरा दबाव रहता है। पहले घर का काम करो, सबका खाना, पशुओं के चारे-ईंधन की व्यवस्था करो फिर खेती में घंटों तकलीफदेह मुद्राओं में खेतों के बीच निराई, गुड़ाई, रोपाई और कटाई का काम करने जाओ। वापस आकर भी पुरुष खेतिहर की तरह औरत को आराम या पका पकाया खाना नहीं मिलता। खाना पकाओ, सबको खिलाओ फिर घर के टंटे निबटाओ और रसोई समेट कर अगले दिन की तैयारी करो। विश्व खाद्य एवं कृषि संगठन यानी एफएओ की एक रपट के अनुसार हिमालयीन इलाके में लगभग एक एकड़ के खेत में हर साल एक बैल 1,064 घंटे, पुरुष खेतिहर 1,212 घंटे और एक महिला खेतिहर 3,485 घंटे काम करते हैं। इनमें से दस फीसदी से भी कम औरतें ही खेत की मालकिन हैं। अधिकतर महिलाएं बहैसियत मौसमी कागगार दिहाड़ी पर ही काम करती हैं। दिहाड़ी भी न्यूनतम से कम ही होती है या वे मनरेगा जैसी सरकारी योजनाओं के तहत खेती-बाड़ी का काम कर रही हैं। यूएन की रपटों के अनुसार भारत जैसे विकासशील देशों में आज 60 से 80 फीसदी खाद्योत्पादन ऐसी महिलाएं करती हैं जिनमें से अधिकांश के पास कोई विधिवत प्रशिक्षण या उन्नत कृषि उपकरण या स्वास्थ्य सुरक्षा के लिए जरूरी दस्ताने, एप्रन, जूते या मास्क नहीं होते और चूंकि आज देश की अधिकांश जोतें छोटी और **यांत्रिक** उपकरणों से वंचित हैं, ऐसे में ये महिलाएं आज भी काम करते समय बाबा आदम के जमाने की कुदाली, फावड़े, खुरपियां और दरांतियां ही इस्तेमाल करती दिखती हैं। यह भी सचाई है कि बुआई से कटाई और बोरों में भराई तक खेती का सारा काम खुले आसमान के नीचे ही होना है। आर्थिक विवशता की वजह से हर साल कई महीने लगातार **प्रदूषित** वातावरण में मिट्टी, गोबर, कीचड़-पानी और कीड़े मकोड़ों से भरी जंगली घास के बीच काम करना (कई बार गर्भावस्था के महीनों में या जचगी के तुरंत बाद भी) हमारी खेतिहर महिलाओं के स्वास्थ्य की दशा को किस तरह लगातार बद से बदतर बना रहा है, इसके चंद उदाहरण पेश हैं।

तंबाकू की खेती में लगी पूर्वी गोदावरी जिले की महिलाओं पर हुए भारतीय चिकित्सा शोध परिसंघ के अनुसार कुल 8,000 करोड़ रुपये सालाना कमाई करने और निर्यात से 1,360 करोड़ की विदेशी मुद्रा कमाने वाला यह धंधा **स्वास्थ्य** की दृष्टि से खतरनाक कामों की तालिका में सबसे ऊपर है और यहां निराई-गुड़ाई, कटाई-बंडल बंधाई का सारा काम लगभग महिलाएं ही करती हैं। इनके लिए खतरों

से सुरक्षा या हाथ-मुंह धोने, शौच आदि के लिए कहीं कोई समुचित प्रबंध नहीं किया जाता। देश की दूसरी सबसे बड़ी नकदी फसल कपास की खेती में भी ज्यादातर कामगार औरतें ही हैं। राजस्थान के राजसमंद में हुए शोध के अनुसार खतरनाक कीटनाशकों के छिड़काव और उचित रक्षा उपकरणों के अभाव से लगातार घंटों तक झुक कर काम करने को बाध्य ये महिलाएं समय से पहले बूढ़ी और तरह तरह की अलर्जीजनित, श्वासनली और फेफड़ों से जुड़े गंभीर रोगों की शिकार बन रही हैं। अब पशुपालन को देखें जिसे सरकार भी कृषि-क्षेत्र का ही विस्तार मानती है। वहां भी सानी-पानी और गोशाला की सफाई अधिकतर औरत के ही जिम्मे है। यह बात बहुत कम प्रकाश में आती है कि बीमार पशुओं के संपर्क में आने और प्रदूषित वातावरण के कारण पहले से ही कमजोर महिलाओं को पशुओं से तपेदिक, स्वाइन फ्लू या बर्ड फ्लू सरीखे रोग कितनी आसानी से पकड़ लेते हैं। डेरी उद्योग के शोधकर्ताओं ने पाया है कि प्रत्येक आयुवर्ग की महिला खेतिहरों में रक्ताल्पता और प्रजनन तंत्र के संक्रमण के अलावा तमाम रोग आम हैं। वहीं बिगड़ी जचगी और सांप काटने से हुई महिला खेतिहरों की मौत या लंबे अस्पतालीकरण पर गरीब खेतिहर परिवार कई बार पैसे की कमी से विवश हो उन्हें मरने छोड़ देते हैं। राजस्थान की एक दाई ने मुझसे कहा था, 'गांव का खेतीवाला एक भी मरद मर जाए तो तहसीलदार से कलट्टर तक सब जीप में बैठ कर आ जाते हैं और पूछताछ करते हैं कि अगला कैसे मरा? पर हर महीने दो-चार जवान औरतें हमारे आगे दम तोड़ देती हैं जिनकी मौत पर मक्खी भी पर नहीं मारती। ये है हमारी जिनगानी!'

अगर सरकार सचमुच कृषि क्षेत्र को बचाना चाहती है तो उसे खेतीबाड़ी को जिंदा रखने वाली अन्नपूर्णाओं की बेहतरी और सुरक्षा को सबसे पहली तवज्जो देनी होगी। उसके लिए सुरक्षित कृषि उपकरण, प्रतिरोधात्मक पोशाकें, मास्क, दस्ताने आदि वैसे ही अनिवार्य बनाने होंगे जैसे वे अस्पतालों या अन्य किसी भी संगठित क्षेत्र में हैं। साथ ही कृषि विज्ञान केंद्रों के मार्फत महिला खेतिहरों के समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी ताकि वे न सिर्फ दरांती, खुरपी, बल्कि कीटनाशकों व रासायनिक खाद के सही सुरक्षित इस्तेमाल की बाबत व्यावहारिक जानकारी पा सकें। सबसे ऊपर, सभी गांवों की महिला खेतिहरों के लिए सरकार की तरफ से नियमित स्वास्थ्य जांच और नि:शुल्क दवा-दारू की व्यवस्था अविलंब होनी चाहिए। परवरिश से दब्बू परनिर्भर महिलाओं की कृषि मंडियों तक पहुंच सुनिश्चित करना और नई संचार तकनीकी से भुगतान पाने और बैंक खाते चलाने की तालीम जैसे कुछ कदम हैं जो उन्हें आत्मनिर्भर और आत्मविश्वासी बनाएंगे। इससे वे किस्मत को दोष देने से ऊपर उठ कर अपनी बाबत सोचना भी सीखेंगी। जो महिलाएं सदियों से हजारों किस्म के देसी बीज बाढ़ सुखाड़ के बीच बचाती आई हैं, जो देसी जड़ी-बूटियों और पशु आहार और उनके इलाज की बाबत जानकारियों का विशालतम मौखिक भंडार हैं, वे स्वास्थ्य या बीज संरक्षण और फसलों की बेहतरी से जुड़ी नई जानकारी का लाभ नहीं उठा सकतीं, यह मानने की कोई तर्कसंगत वजह नहीं।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 26-07-17

'बीमार' विचार

संपादकीय

केंद्र सरकार ने एक मसौदा अनुबंध तैयार किया है जिसमें निजी चिकित्सालयों के समक्ष प्रस्ताव रखा जाएगा कि वे जिला चिकित्सालयों के साथ मिलकर स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने में सहयोग करें। यह प्रस्ताव नीति आयोग का है। इस मसौदे में स्वास्थ्य मंत्रालय ने भी कुछ शुरुआती मदद की है और इसे राज्य सरकारों के पास भेजा गया है कि वे इसे लेकर अपनी राय व्यक्त करें। इस मसौदे में 50 या 100 बिस्तरों वाले अस्पतालों के लिए 30 साल की लीज का प्रावधान है। यह लीज दूसरे दर्जे के शहरों में दी जाएगी। इन अस्पतालों को जिला अस्पतालों के बेहतर बुनियादी ढांचे का लाभ मिलेगा। इसमें रक्त बैंक और एंबुलेंस सेवाएं शामिल हैं। इसके अलावा इनको कुछ सार्वजनिक धनराशि भी मिलेगी और सरकारी प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों से सुनिश्चित रेफरल भी।

इस पर कोई सवाल नहीं उठा सकता है कि देश में स्वास्थ्य सुविधा क्षेत्र की हालत निहायत खराब है। शिशु मृत्यु दर और जीवन संभाव्यता जैसे कुछ संकेतकों के मामले में अहम सुधार होने के बावजूद देश के अधिकांश लोगों को मामूली सेवाओं के लिए बहुत अधिक धनराशि चुकानी पड़ती है। देश में निम्न मध्यवर्ग के अचानक गरीबी के भंवर में फंस जाने के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार इलाज के ऐसे ही खर्चे हैं जो अचानक उनके सिर पर आ जाते हैं। सरकार की वर्ष 2015 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में कहा गया है कि वर्ष 2011-12 के दौरान देश में 5.5 करोड़ लोग केवल चिकित्सा संबंधी खर्च के कारण गरीबी के गहरे भंवर में उलझ गए। इसमें कुछ भी चकित करने वाला नहीं है क्योंकि स्वास्थ्य पर होने वाले खर्च का दो तिहाई हिस्सा मरीज की जेब से ही आता है। यह दुनिया में सबसे अधिक अनुपातों में से एक है। इतना ही नहीं इसमें लगातार इजाफा हो रहा है। वर्ष 2004-05 के 15 फीसदी से बढ़कर वर्ष 2011-12 में 18 फीसदी पर पहुंच गया।

लेकिन सरकार ने इस गंभीर संकट से निपटने के लिए जो तरीका चुना है वह कतई गलत है। सार्वजनिक खर्च पर स्वास्थ्य सुविधाओं के निजी प्रावधानों ने यही दिखाया है कि यह तरीका कतई कारगर नहीं है। इसके पीछे तमाम मजबूत आर्थिक वजह भी हैं। इस क्षेत्र में गुणवत्ता सुनिश्चित करने संबंधी निगरानी और नियमन की लागत बहुत ज्यादा है। भारत जैसे देश में तो यह समस्या दोहरी बनकर सामने आएगी क्योंकि हमारे यहां प्रशासनिक सुधारों ने राज्यों को इस संबंध में सीमित क्षमता प्रदान की है। हमारे यहां मरीजों, चिकित्सकों, अस्पतालों और सरकार के स्तर पर सूचनाओं में इतनी असमानता और इतना बिखराव है कि उनको एकत्रित करना ही खासा मुश्किल है। यही वजह है कि किफायती बाजार आधारित हल जुटा पाना आसान नहीं है। सच यह है कि जन स्वास्थ्य की आपूर्ति में सुधार के लिए उपलब्ध फंड के बेहतर से बेहतर इस्तेमाल का अन्य कोई विकल्प है ही नहीं।

निजी-सार्वजनिक साझेदारी के लिए चतुराईपूर्ण अनुबंध तैयार करने के प्रयासों से मूल समस्या हल नहीं होगी। विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक भारत स्वास्थ्य पर होने वाले सार्वजनिक खर्च के मामले में 191 देशों में 178वें स्थान पर है और जीडीपी का केवल 1.2 फीसदी हिस्सा स्वास्थ्य पर खर्च करता है। हमारी सरकार थाईलैंड और चीन जैसे देशों की तुलना में स्वास्थ्य पर बहुत कम खर्च करती है। सरकार ने मान लिया है कि यह समस्या है। सत्ता में आने के तत्काल बाद उसने घोषणा की थी कि वह जीडीपी का 2.5 फीसदी स्वास्थ्य पर खर्च करेगी। अब उसे उन संसाधनों को उपलब्ध बनाने पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि स्वास्थ्य क्षेत्र के लोगों को प्रशिक्षित करने का व्यवहार्य ढांचा निर्मित किया जा सके, बजाय निजी अनुबंधों पर काम करने के। क्योंकि ये अंतत: स्वास्थ्य क्षेत्र की कंपनियों को ही लाभ पहुंचाएंगे।

Date: 26-07-17

सामाजिक सुरक्षा को कैसे किया जाए सुनिश्चित!

नितिन देसाई

समाज के कमजोर तबके के लिए स्वास्थ्य की देखभाल एवं पेंशन व्यवस्था का खाका तैयार करने की जरूरत है। इस संबंध में विस्तार से जानकारी दे रहे हैं नितिन देसाई

हाल में दिल्ली स्थित मानव विकास संस्थान की एक संगोष्ठी में सभी लोगों को सामाजिक सुरक्षा की खातिर निश्चित धनराशि उपलब्ध कराने (यूनिवर्सल बेसिक इनकम यानी यूबीआई) से संबंधित कुछ प्रस्तावों पर चर्चा की गई। इन प्रस्तावों को तैयार करने वाले प्रणव वद्र्धन और विनय जोशी की संगोष्ठी में मौजूदगी ने उसे और धार देने का काम किया। सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में दी जाने वाली सब्सिडी के गलत दिशा में चले जाने से उपजी निराशा और 'त्रुटिपूर्ण' सब्सिडी की बड़ी मात्रा के समाज के साधन-संपन्न लोगों तक पहुंच जाने जैसे मुद्दे भी उस संगोष्ठी में काफी प्रमुखता से उठाए गए। जोशी के मुताबिक मौजूदा सब्सिडी को खत्म कर उसके स्थान पर 'सघन राजकोषीय समायोजन' करने के साथ ही यूबीआई सुनिश्चित करने का विकल्प आजमाया जा सकता है। इसके वास्ते जरूरी संसाधनों को जुटाने के लिए त्रुटिपूर्ण सब्सिडी में कमी लाने के अलावा कर एवं जीडीपी का अनुपात बढ़ाने, विनिवेश और राजकोषीय रियायतों को तर्कसंगत बनाने पर भी चर्चा हुई। इन रियायतों से जीडीपी पर 10 फीसदी बोझ पडऩे की बात भी कही गई।

हालांकि अपवादों की जरूरत स्वीकार की गई जिसमें आय सब्सिडी के सबसे बड़े स्रोत मनरेगा को भी शामिल किया गया। इस पर भी सहमति जताई गई कि शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी सार्वजनिक सेवाओं पर व्यय बनाए रखा जाना चाहिए। हालांकि इन अच्छे मदों में होने वाले सार्वजनिक व्यय की प्राथमिकता तय करने और इसके लिए परिवारों और लाभार्थियों की पहचान करने वाली एजेंसी के चयन को लेकर मतभेद भी नजर आए। दूसरे समूह में शामिल लोगों का कहना था कि स्वास्थ्य और शिक्षा रियायतें यूबीआई सुनिश्चित करने के बाद देनी चाहिए। पूरी चर्चा में यह बात साफ थी कि राजनीतिक दल अपना वोट बैंक साधने के लिए सब्सिडी का एक औजार के तौर पर इस्तेमाल करते हैं।हालांकि संगोष्ठी में इस बात पर थोड़ी काल्पनिक चर्चा भी सुनने को मिली कि अगर यूबीआई को मूर्त रूप देना है तो व्यक्तिगत या घरेलू प्राधिकार, मासिक या वार्षिक भुगतान, बैंक खातों के जरिये लेनदेन या मोबाइल वालेट में से कौन सा तरीका अपनाना बेहतर होगा। मेरी चिंता का विषय बस यह है कि इन मुद्दों पर चर्चा तभी होनी चाहिए जब हम इस नतीजे पर पहुंच चुके हों कि भारत में सामाजिक सुरक्षा सुनिश्चित करने का कारगर तरीका यूबीआई ही है।

खुद प्रणव वद्र्धन का कहना है कि यूबीआई का मामला घरेलू आर्थिक सुरक्षा पर पडऩे वाले इसके असर पर निर्भर करना चाहिए। हमारे विभाजित समाज में सामाजिक भेदभाव के खिलाफ संरक्षण को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। सामाजिक कल्याण के नजरिये से हमें निजी एवं सार्वजनिक हित के उपभोग के न्यूनतम स्तर की गारंटी देने पर विचार करना चाहिए। इसके अलावा अनर्थकारी स्वास्थ्य खर्चों, फसलों के लगातार खराब होने, रोजगार गंवाने और प्राकृतिक आपदा जैसे हालात में भी सुरक्षा देनी होगी। किसी व्यक्ति को स्वयं और अपने बच्चों की जिंदगी बेहतर बनाने के लिए जरूरी संसाधन जुटाने का भी मौका मिलना चाहिए। महिलाओं, आदिवासियों, दलितों और अल्पसंख्यकों के सशक्तीकरण और संबद्धता का भाव पैदा करने में भी सफल होना चाहिए। इसके साथ ही सिर पर मैला ढोने जैसे अमानवीय पेशे में फंसे लोगों को उससे निकालने का भी रास्ता बनाया जाना चाहिए।इस सवाल का जवाब तलाशने की जरूरत है कि किसी व्यक्ति को साल भर में क्या कुछ हजार रुपये का नकद हस्तांतरण करने भर से इन लक्ष्यों को हासिल किया जा सकेगा? गरीब एवं वंचित समाज से ताल्लुक रखने वाले एक व्यक्ति के नजरिये से देखा जाए तो निश्चित रूप से यह रकम उसके लिए एक राहत होगी। हालांकि यह रकम मिलने पर उसे सरकार से मिलने वाली सभी तरह की रियायती सेवाओं एवं सब्सिडी पर मिलने वाले सामान का मोह छोडऩा पड़ेगा। उसे सब्सिडी वाला अनाज, मनरेगा के तहत मिलने वाला रोजगार, लड़कियों के जन्म, गर्भवर्ती महिला के इलाज एवं विकलांगों की मदद के लिए चलाई जा रही कल्याणकारी योजनाएं, छात्रवृत्ति वितरण योजनाएं, लक्षित बीमा योजनाएं (फसल सुरक्षा या स्वास्थ्य देखभाल), रोजगार में आरक्षण जैसे सुधारात्मक उपाय और भेदभाव से संबंधित कानूनों से मिलने वाले लाभ भी क्या छोडऩे होंगे? हरेक पूंजीवादी बाजार वाली अर्थव्यवस्था की तरह भारत को भी बहुत जल्द एक सुगठित सामाजिक सुरक्षा प्रणाली की जरूरत होगी। सवाल उठता है कि क्या यूबीआई योजना इसका जवाब है?

वर्तमान में सामाजिक सुरक्षा का जो स्तर है उसमें किसी व्यक्ति को बेरोजगारी, गंभीर बीमारी के इलाज में लगने वाले भारी खर्च, अधिक उम्र और आपात स्थितियों का सामना करने के लिए मूलत: पारंपरिक सहयोग प्रणालियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। या तो वह व्यक्ति नौकरी छूटने पर अपने गांव लौट जाता है या बीमारी के इलाज या अन्य आपात स्थितियों में रिश्तेदारों और दोस्तों से आर्थिक मदद लेता है या बुढ़ापे में अपने बच्चों पर आश्रित हो जाता है। ये पारंपरिक सहयोग प्रणालियां काफी अपमानजनक लगती हैं। खास तौर पर बुजुर्ग महिलाओं को अक्सर अपनी बाकी उम्र काटने के लिए वाराणसी और वृंदावन के विधवा आश्रमों में गुजर-बसर करने भेज दिया जाता है।केंद्र और राज्य आर्थिक असुरक्षा से कुछ हद तक संरक्षण देते हैं। लेकिन इस दिशा में अभी काफी कुछ किए जाने की दरकार है। आंकड़े बताते हैं कि अफ्रीका या एशिया-प्रशांत क्षेत्र के भी कुछ देशों की तुलना में हमारी कोशिशें सीमित हैं। शहरीकरण, औद्योगीकरण और विस्थापन होने से लोगों के पास विस्तारित परिवार का पारंपरिक सुरक्षा घेरा नहीं रह जाएगा और हमें सरकार की मदद से संचालित सामाजिक सुरक्षा आवरण की जरूरत पड़ेगी। उसमें अधिकारियों के विवेकाधिकार की कोई जगह नहीं होगी और केवल पात्रता ही उसका आधार होगा। हालांकि पात्रता के लिए कुछ साधनों को पूरा करने या कुछ सामाजिक-भौगोलिक मापदंड और जरूरत जैसी शर्तें रखी जा सकती हैं।

दूसरे देशों के अनुभव के आधार पर देखें तो हमें जल्द-से-जल्द सामाजिक सुरक्षा व्यय को दोगुना कर जीडीपी के पांच फीसदी तक ले जाने की जरूरत है। इसके साथ ही यह भी मानकर चलना होगा कि भारत के एक शहरीकृत औद्योगीकृत उच्च-मध्यम आय वाली अर्थव्यवस्था के रूप में तब्दील होने पर यह अनुपात बढ़कर 10 फीसदी तक पहुंच जाएगा। यूबीआई के लिए राजकोषीय प्रावधान की गुंजाइश संबंधी गणनाएं बताती हैं कि हम सभी लोगों के लिए पात्रता पर आधारित एक सामाजिक सुरक्षा प्रणाली का बोझ उठा सकते हैं।हालांकि हमें इस सवाल पर भी सोचना चाहिए कि मौजूदा स्थिति से आगे हम किस तरह बढ़ सकते हैं? मौजूदा योजनाओं से लाभांवित हो रहे लोग उसके अभ्यस्त हो चुके हैं और राजनीतिक संरक्षक भी उन लोगों का समर्थन पाने के आदी हो चुके हैं। इस दिशा में शुरुआती तौर पर एक तरह की योजनाओं को आपस में मिला देने, नकद लाभ देने के बजाय सीधे बैंक खातों में रकम भेजने और

प्रतिपादन मशीनरी को तर्कसंगत बनाने जैसे उपाय किए जा सकते हैं। इससे किसी भी व्यक्ति या परिवार के लिए अपनी पात्रता साबित करने और विभिन्न योजनाओं का लाभ उठाने के लिए एक संपर्क सूत्र विकसित करने में मदद मिलेगी।

यूबीआई के बारे में रखे गए प्रस्तावों को आधार बनाते हुए हमें एक एकीकृत सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम तैयार करने की कोशिश करनी चाहिए। इससे पात्र लोगों को सभी सार्वजनिक सेवाओं और केंद्र एवं राज्य की तरफ से सामाजिक सुरक्षा के लिए दी जा रही नकद एवं अन्य सुविधाओं का लाभ दिया सकेगा। दरअसल हमें महज एक साधारण यूबीआई की जरूरत नहीं है बल्कि सभी के लिए स्वास्थ्य देखभाल, वृद्धावस्था पेंशन, बेरोजगारी भत्ता और समाज के कमजोर तबकों के लिए सामाजिक सहयोग सुनिश्चित करने वाली एक समेकित एवं एकीकृत प्रणाली चाहिए। यह काम जीएसटी की ही तरह जटिल होने के साथ ही देश की एकता एवं लोकतंत्र को सशक्त बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण भी है।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 25-07-17

एकल व्यवस्था की अपेक्षा

सरकार द्वारा अपने नागरिकों के बारे में उनकी व्यक्तिगत सूचनाओं को सहेजने का स्तर और मात्रा अपरिमित हैं। मोदी सरकार ने सुप्रीम कोर्ट में बताया है कि वह डीएनए प्रोफाइलिंग बिल पेश करने वाली है। सरकार के प्रभावी कामकाज और सामाजिक कल्याण योजनाओं के कारगर कार्यान्वयन के लिए जहां संवेदनशील व्यक्तिगत सूचनाओं को सहेजना और उनका इस्तेमाल जरूरी है, वहीं सभी सरकारी एजेंसियों का भी दायित्व है कि निजता के अधिकार का उल्लंघन न होने पाए। इतनी बड़ी मात्रा में व्यक्तिगत सूचनाएं एकत्रित करने से पूर्व हमारे लिए सूचनाओं के संरक्षण संबंधी कानून बनाया जाना आवश्यक है। सूचना प्राप्त करने की आजादी में किसी की निजता संबंधी चिंता भी निहित है यानी सूचना का अधिकार कानून में व्यक्तिगत सूचना न बताने से छूट है। सूचना और संपर्क के हासिल में मानवाधिकार को प्रोत्साहन, बुनियादी स्वतंत्रताओं और मानवीय गरिमा भी शामिल हैं। जब निजता के रूप में मौजूद गरिमा का हनन होता है, और सूचना जबरिया या गुपचुप तरीके से हासिल की जाती है, तो वैयक्तिक निजता पर हमला है।

कहने का तात्पर्य यह कि किसी के आशियाने को अलंघनीय माना जाए या जैसा कि एडवर्ड कोक काफी पहले कह चुके हैं, ‘‘किसी का घर उसका महल होता है।’ आधार को अनिवार्य बनाने की संवैधानिकता पर सुनवाई में विलंब का मानवाधिकार के पैरवीकारों में अच्छा संकेत नहीं गया है। पूर्व एटॉर्नी जनरल और केके वेणुगोपाल, देश की बार के नवनियुक्त नेता, द्वारा व्यक्त विचारों से मानवाधिकारों के अलम्बरदारों को झटका लगा है। क्या निजता के अधिकार को जीवन एवं व्यक्तिगत स्वंत्रता के अधिकार में निहित किया जाए? इस मुद्दे पर अब नौ जजों की पीठ सुनवाई कर रही है। बीते जून माह में शीर्ष अदालत द्वारा दिए गए निराशाजनक आदेश के आलोक में मानवाधिकार कार्यकर्ता नौ न्यायाधीशों की पीठ द्वारा दिए जाने वाले फैसले को लेकर चिंतित हैं। जब कभी लोकतांत्रिक सरकार ने अपनी शक्तियों से बाहर जाकर संविधान में संशोधन करने का प्रयास किया तो सुप्रीम कोर्ट ने नागरिक अधिकारों के संरक्षक और गारंटर के रूप में मजबूती से उस सरकार को अपनी शक्तियों के दुरुपयोग से रोका। जहां तक निजता के अधिकार का प्रश्न है, तो यह अनुसुलझा मुद्दा नहीं है।

निजता के अधिकार का पहला मामला सतीश चंद्रा (1954) का था जिसमें तलाशी और जब्ती संबंधी सरकार के अधिकार पर सवाल था। अदालत ने निजता के अधिकार संबंधी विशेष प्रावधानों के मामले में अमेरिकी संविधान के चौथे संशोधन सरीखे प्रावधान की भारतीय संविधान में कमी की ओर इंगित किया। उसने स्पष्ट कहा, ‘‘हम भारत में निजता का अधिकार आयात नहीं कर सकते।’ तदोपरांत खड़क सिंह (1963) का मामला आया। इस मामले डकैती और हिंसा के अभियुक्त को

रिहा किया गया था, लेकिन उस पर निगरानी रखी जा रही थी। गांव का चौकीदार और पुलिस के सिपाही रात में चिल्लाते हुए उसका दरवाजा खटखटा कर उसे जगा देते थे। उससे उसकी नींद में खलल होता था। उसे कईबार थाने में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने जाना पड़ता था। ऐसे में उप्र पुलिस नियमन के अध्याय 20 को चुनौती दी गई।

अपील-दलील सुनने के पश्चात छह जजों ने फैसला सुनाया कि ''प्रत्येक व्यक्ति का घर उसका अपना महल होता है' लेकिन कहा कि भारत में निजता का अधिकार बुनियादी अधिकार नहीं है। उसके बाद जस्टिस सुब्बा राव का फैसला आया जिसमें कहा गया कि बेशक, निजता के अधिकार का विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया गया है, तो भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। फिर गोबिंद (1975) मामले में खड़क सिंह मामले में व्यक्त की गई अल्पसंख्यक राय ने बहुमत की राय की शक्ल अख्तियार कर ली।

जस्टिस मैयू, जस्टिस कृष्णा अय्यर और जस्टिस गोस्वामी ने इस विचार को स्वीकार किया कि भारत में निजता का अधिकार है। तदोपरांत मलक सिंह (1981) मामले में अदालत एक कदम और बढ़ी। इस फैसले में अदालत ने कहा कि निगरानी अनुच्छेद 21 तथा 19(1)(डी) के तहत प्रदत्त निजता के अधिकार का अतिक्रमण करती है। निजता के अधिकार की स्वीकार्यता का उस समय और भी विस्तार हुआ जब अदालत ने एक फैसले में कहा कि महिलाओं की अपनी निजता होती है, और किसी को उनकी निजता को भंग करने का अधिकार नहीं है। नीरा (1992) मामले में जब भारतीय जीवन बीमा निगम की एक परिवीक्षा अधिकारी ने चिकित्सा जांच के दौरान पिछली माहवारी के बारे में जानकारी दी तो अदालत ने माहवारी चक्र की नियमितता आदि संबंधी अनुच्छेदों को निजता के अधिकार का उल्लंघन करार देते हुए आदेश दिया कि ऐसे कॉलम को तत्काल हटाया जाए। राजा गोपाल (1995) मामले में शीर्ष अदालत ने कहा कि मौत की सजा पाए व्यक्ति को भी निजता का अधिकार मिला है। टेलीफोन टेप करने को भी अदालत ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन करने वाला बल्कि अभिव्यक्ति की आजादी के खिलाफ भी बताया। हिंसा विरोधक संघ (2008) मामले में व्यवस्था दी कि शाकाहार या मांसाहार का मामला भी निजता के अधिकार में निहित है। 2016 में तो बॉम्बे हाई कोर्ट ने बीफ खाने को प्रतिबंधित करने वाले कानूनी प्रावधान को भी खारिज कर दिया था। यह कहते हुए कि कट्टीघर पर प्रतिबंध नहीं है, तो खाने पर क्यों। आइए, उम्मीद करें कि नौ जजों की पीठ ठोस कानूनी व्याख्यों के आधार पर व्यवस्था देगी। (लेखक नलसार यूनिवर्सिटी ऑफ लॉ, हैदराबाद के उपकुलपति हैं। लेख में व्यक्त विचार निजी हैं)